वेदोऽखिलोधर्ममूलम्

वेद प्रकाश

ऋग्वेद
यजुर्वेद
सामवेद
अथर्ववेद

मासिक पत्र (6-7 प्रतिमाह) मूल्यः ५ रुपये नवम्बर २०१३

कुल पृष्ठ संख्या 20, वजनः 40 ग्राम

अन्तःपथ

वैदिक साहित्य के सम्पादन एवं प्रकाशन संबंधी कुछ प्रश्न व अधिकार (मनमोहन कुमार आर्य, देहरादून)	३ से ८
लोकैषणा में डूबता आर्यों का समाज (डॉ. पूर्णसिंह डबास)	९ से १८

श्रेष्ठ पुस्तकों के अध्ययन से सब से कम खर्चीला मनोरंजन होता है, और वह स्थायी होता है।

अच्छी पुस्तक वह है जो आशा के साथ खोली जाए और लाभ से बंद हो।

प्रख्यात वेद मर्मज्ञ
आचार्य रामनाथ वेदालंकार सम्मानित

देहरादून 18 सितम्बर 2013! गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के यशस्वी स्नातक, वैदिक एवं संस्कृत साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान्, सामवेद भाष्यकार तथा राष्ट्रपति द्वारा सम्मानित वेदमूर्ति आचार्य रामनाथ वेदालंकार विद्यामार्तण्ड को महर्षि सान्दीपनि राष्ट्रीय वेद विद्या प्रतिष्ठान उज्जैन (मानव संसाधन विकास मन्त्रालय भारत सरकार का एक प्रतिष्ठान) द्वारा उनकी सुदीर्घकालीन वेद सेवाओं, विशेषकर सामवेद भाष्य के सृजन के लिए वर्ष 2012 के प्रथम सान्दीपनि राष्ट्रीय वेद विद्या पुरस्कार से सम्मनित किया गया है। चूंकि इस सम्मान का निर्णय उनके जीवन काल में ही हो गया था, परन्तु इसी बीच उनके दिवंगत होने के कारण यह सम्मान 13 सितम्बर 2013 को लखनऊ में आयोजित त्रिदिवसीय राष्ट्रीय संस्कृत एवं वैदिक सम्मेलन के भव्य समारोह में आचार्यश्री के सुपुत्र डॉ. विनोदचन्द्र विद्यालंकार को मुख्य अतिथि, प्रख्यात राजनयिक और भारतीय सांस्कृतिक सम्बन्ध परिषद् के अध्यक्ष डॉ. कर्णसिंह, मानव संसाधन विकास मंत्रालय के राज्य मंत्री श्री जितिन प्रसाद और प्रतिष्ठान के अध्यक्ष एवं मानव संसाधन विकास मंत्री डॉ. एम.एम. पल्लम राज के करकमलों द्वारा प्रदान किया गया। इस अवसर पर प्रतिष्ठान के उपाध्यक्ष एवं तिरुपति वैदिक विश्वविद्यालय के पूर्व कुलपति प्रो. सुदर्शन शर्मा तथा देश के अनेक विश्वविद्यालयों के कुलपति एवं मूर्धन्य विद्वान् उपस्थित थे।

प्रतिष्ठान के सचिव डॉ. रूपकिशोर शास्त्री ने बताया कि वैदिक अध्ययन के क्षेत्र में मौलिक लेखन तथा वेद विषयक ग्रन्थों का भाष्य, पाण्डुलिपियों के सम्पादन, वेद विद्या में शोध, वैदिक संस्कृति पर दुर्लभ ज्ञान को संरक्षित करने हेतु प्रतिष्ठान के रजत जयन्ती वर्ष 2013 से ही यह पुरस्कार प्रारम्भ किया गया है और चयन समिति एवं मन्त्रालय सर्वप्रथम इस पुरस्कार के लिये वेदमूर्ति रामनाथ वेदालंकार का चयन कर स्वयं को गौरवान्वित अनुभव कर रहा है। पर आज वे हमारे बीच नहीं हैं, अतः मन्त्रालय ने मरणोपरान्त उनका यह पुरस्कार उनके पक्ष में उनके सुपुत्र डॉ. विनोदचन्द्र विद्यालंकार को देने का निश्चय किया। प्रतिष्ठान के उपाध्यक्ष प्रो. सुदर्शन शर्मा ने डॉ. विद्यालंकार को बधाई दी तथा यह आश्वासन भी दिया कि आचार्य प्रवर की स्मृति को स्थायित्व प्रदान करने के लिए प्रतिष्ठान का सहयोग सदा बना रहेगा।

मनमोहन कुमार आर्य
पताः 196 चुक्खूवाला-2
देरादून-248001 (उत्तराखण्ड)

वेदप्रकाश

संस्थापक : **स्वर्गीय श्री गोविन्दराम हासानन्द**
वर्ष ६३ अंक ४ वार्षिक मूल्य : तीस रुपये, एक प्रति ५ रुपये, नवम्बर, २०१३
सम्पा० **अजयकुमार** पूर्व सम्पादक : स्व० **स्वामी जगदीश्वरानन्द सरस्वती**

ओ३म्

वैदिक साहित्य के सम्पादन एवं प्रकाशन संबंधी कुछ प्रश्न व अधिकार

–मनमोहन कुमार आर्य, देहरादून

संसार में अनेक मत व सम्प्रदाय हैं। आर्यसमाज कोई प्रचलित मत या सम्प्रदायों की भाँति नहीं, अपितु इनसे सर्वथा भिन्न एक आन्दोलन है जिसका अपना मत व सिद्धान्त सृष्टि के आरम्भ में ईश्वरीय प्रदत्त ज्ञान 'वेदों' में विश्वास है। आर्यसमाज के संस्थापक महर्षि दयानन्द सरस्वती ने उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में मुख्यत: 'सत्यार्थप्रकाश' की रचना करके आधुनिक काल में समालोचनात्मक धर्म-मत विषयक ग्रन्थ लेखन कार्य का शुभारम्भ किया था। आर्यसमाज में अनेक विद्वान हो चुके हैं व हैं जिन्होंने एक-दो नहीं अपितु कई दर्जन ग्रन्थ लिखे हैं एवं इसके साथ संस्कृत, अंग्रेजी, उर्दू आदि अन्य विद्वानों के ग्रन्थों का हिन्दी में अनुवाद व सम्पादन कर उन्हें प्रचारित व प्रसारित किया है। आर्यसमाज में धर्म को जानने, समझने, शंका करने, प्रश्नोत्तर करने व आलोचना-प्रत्यालोचना करने की छूट है। हमें ऐसी अन्य किसी धार्मिक संस्था के बारे में जानकारी नहीं है, जहाँ इस प्रकार की स्वतन्त्रता उसके अनुयायियों को प्राप्त हो। ये बातें आर्यसमाज को अन्य संस्थाओं से पृथक् करती हैं क्योंकि जितने ग्रन्थ व पुस्तकों का लेखन, सम्पादन, अनुवाद, आलोचना, समीक्षा व प्रकाशन आदि कार्य आर्यसमाज के विद्वानों व अनुयायियों द्वारा किया जाता है, उतना शायद ही अन्य मतानुयायियों द्वारा किया जाता हो।

कई बार लेखक का यह मत होता है कि उसने जो पुस्तक लिखी है, वह उसकी निजी बौद्धिक सम्पत्ति है। कोई उसकी पुस्तक से सामग्री लेकर उसका उपयोग स्वकीय लेखन कार्यों में न करे। यदि करता है तो इसके लिए पहले लेखक की अनुमति प्राप्त करे। यह सम्भवत: पूरी तरह व्यावहारिक नहीं है और उचित भी नहीं है। यह बात अवश्य है कि

लेखक ने जो पुस्तक लिखी है, उसमें उसने परिश्रम किया है। अनेकानेक पुस्तकें पढ़ी हैं, चिन्तन व विचार किया है व ऊहापोह किया है। उसमें उसका समय, धन व शक्ति लगी है। इसी प्रकार प्रकाशक भारी व्यय करके पुस्तक का प्रकाशन करते हैं। स्वाभाविक रूप से उनकी भी यह अपेक्षा होती है कि अन्य प्रकाशक उसका प्रकाशन न करें जिससे कि उनका आर्थिक हित सुरक्षित रहे। व्यावसायिक प्रकाशकों के मामले में तो यह आवश्यक है इसका यह कारण है कि उसमें उन्होंने अपना निजी धन लगाया होता है। दान प्राप्त करने वाली संस्थाओं, न्यासादि या व्यक्ति विशेष द्वारा प्रकाशित पुस्तकों के बारे में स्थिति थोड़ी भिन्न है। अतः व्यावसायिक प्रकाशकों के मामलों में तो यह उचित प्रतीत होता है परन्तु उनको भी यह अवश्य देखना चाहिये कि पुस्तक होने पर नया भव्य व उचित मूल्य का संस्करण पाठकों को शीघ्र सुलभ हो जाये। सत्यार्थप्रकाश जैसी पुस्तकों की स्थिति भिन्न है क्योंकि इसको तो प्रत्येक मानव तक पहुँचाना है। अतः इसके प्रकाशक अनेक हो सकते हैं। परन्तु यहाँ भी प्रकाशकों से यह अपेक्षा की जाती है कि उनका प्रकाशन शुद्ध, निर्दोष, नयनाभिराम, पक्की जिल्द में उचित मूल्य पर उपलब्ध हो। हम तो दान प्राप्त करने वाली धार्मिक संस्थाओं से यह अपेक्षा करते हैं कि वे केवल वही ग्रन्थ प्रकाशित करें जो पाठकों को विक्रय के लिए किसी भी प्रकाशक या पुस्तक विक्रेता से उपलब्ध न हो। यदि किसी व्यावसायिक या आर्य संस्था द्वारा प्रकाशित कोई पुस्तक या ग्रन्थ उपलब्ध है तो उसका प्रकाशन किसी न्यास व अन्य किसी आर्य संस्था को नहीं करना चाहिये। ऐसा करना एक प्रकार से धन का अपव्यय प्रतीत होता है। वह दूसरे अन्य नये व पुराने मौलिक अनुपलब्ध एवं महत्वपूर्ण साहित्य को प्रकाशित करके पाठकों की माँग को पूरी कर सकते हैं। आज हम देख रहे हैं कि एक ही ग्रन्थ भिन्न-भिन्न प्रकाशकों द्वारा प्रकाशित होकर उपलब्ध है जिससे अनुभव होता है कि व्यावसायिक प्रकाशकों को इससे अवश्य ही हानि होती होगी। उचित तो यह लगता है कि यदि किसी व्यावसायिक प्रकाशक के पास कोई आर्य ग्रन्थ उपलब्ध है और किन्हीं कारणों से कोई आर्य संस्था या न्यास उसे प्रकाशित करना चाहता है तो पहले वह उस प्रकाशक से बची हुई पुस्तकें लेकर उसे पाठकों तक पहुँचा दे और फिर उक्त प्रकाशक की सहमति से सद्भावना से मिलकर उसका प्रकाशन करें। इससे पहला लाभ तो आपस में संघर्ष नहीं होगा। दूसरा लाभ यह होगा कि पुराने व नये पाठकों को अनुपलब्ध ग्रन्थ व नये मौलिक ग्रन्थ अधिक मिला करेंगे जो आर्यसमाज में प्रचार की दृष्टि से लाभप्रद होगा। हमारे कहने का

तात्पर्य है कि आर्य प्रकाशकों को एक-दूसरे के आर्थिक हितों का ध्यान रखते हुए किसी ग्रन्थ का प्रकाशन करना चाहिये।

कुछ पुस्तकों पर यदा-कदा 'सर्वाधिकार लेखकाधीन' जैसे शब्द पढ़कर बुद्धि विचार करने के लिए बाध्य होती है। किसी पुस्तक को लिखने मात्र से क्या उस पुस्तक की समस्त सामग्री को दूसरों द्वारा उद्धृत करने का अधिकार भी नहीं होता। स्वाभाविक है कि पाठक व विद्वान् पुस्तक व मूल्य देकर पुस्तक को खरीदते हैं। उसे पढ़ने से ही वह पुस्तक सार्थक होती है। पुस्तक पढ़ने में पाठक को श्रम करना होता है जिसमें बहुमूल्य समय व्यतीत होता। पाठक की योग्यतानुसार उसे पुस्तक से कम, अधिक या नाममात्र लाभ होता है क्योंकि एक पुस्तक की सामग्री पूर्व प्रकाशित अनेक पुस्तकों में होती है। विद्वानों व महापुरुषों के जीवन चरित आदि कुछ अपवाद हो सकते हैं जहाँ पूरी सामग्री मौलिक व अप्रकाशित हो। यदि किसी पाठक को कोई बात अच्छी लगती है और वह सम्मानपूर्वक लेखक के नामोल्लेख के साथ उसे कहीं उद्धृत करता है तो हम समझते हैं कि ऐसा करने पर किसी भी लेखक को कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये। यदि कोई व्यक्ति किसी लेखक की सामग्री की चोरी कर अपने नाम से प्रस्तुत करता भी है तो यह एक प्रकार की मानसिक दुर्बलता है। यद्यपि इससे मूल लेखक को लाभ ही होता है। कारण यह कि परमात्मा तो जानता है कि मूल लेखक कौन है, अतः इसका लाभ तो परमात्मा उसी को देगा। चोरी करने वाला लेखक तो ईश्वरीय व्यवस्था से दण्ड का ही भागी होगा। फिर लेखक इसकी परवाह क्यों करें? धार्मिक व आर्य साहित्य धनोपार्जन के लिए तो सृजित नहीं किया जाता। उसका उद्देश्य तो अपने मिशन की सेवा होता है। उसको जो यश मिलना है वह तो उसे मिलेगा ही। यदि किसी कारण नहीं मिलता तो उसे ईश्वर की न्याय व्यवस्था के सुपुर्द कर दें यदि वह सच्चा आस्तिक है तो। अतः हम समझते हैं कि लेखकीय अधिकारों पर अन्य लेखकों व विद्वानों को लेखों के माध्यम से चर्चा करनी चाहिये जिससे पाठकों व अन्य विद्वानों की भ्रान्तियों का निवारण हो सके। इस प्रकरण में यह यथार्थ मान्यता ध्यातव्य है कि सब सत्य विद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं, उन सबका आदि मूल परमेश्वर है। आर्यजनता वेदों के विद्वान् इस नियम में पूरी-पूरी आस्था रखते हैं। इससे सिद्ध है कि मनुष्य जो भी ज्ञान अर्जित करता है उसका आदि या मूल कारण ईश्वर है। ईश्वर तो किसी से कुछ लेता नहीं है। यह संसार, हमारा शरीर, माता-पिता, परिवार, देश, समाज व संसार की समस्त वस्तुएँ उसने हमें निःशुल्क प्रदान की हैं। उसके दिए हुए ज्ञान व उससे निःशुल्क प्राप्त हुई बुद्धि से कुछ ज्ञान प्राप्त कर हम जो पुरुषार्थ करते हैं उसका स्वामी हम स्वयं बन रहे हैं, एक

प्रकार से यह हमारा अज्ञान व अहंकार है। दूसरे लोग हमारे ज्ञान का प्रयोग व प्रचार ही न करें, इसमें अनुमति के रूप में व्यवधान उत्पन्न किया जाये, ऐसा यदा-कदा कुछ विद्वान् लेखकों के वचनों से विदित होता है। हम समझते हैं कि इस प्रकार का व्यवहार व प्रयोग आर्यसमाज के अन्तर्गत होना किंचित त्रुटिपूर्ण है। इसी क्रम में यह भी विचारणीय है कि ईश्वर ने वेदों का ज्ञान दिया, ऋषि-मुनियों ने वेद के व्याकरण, व्याख्या, उपनिषद्, स्मृति, इतिहास, संस्कार संबंधी अनेक ग्रन्थ लिखे। उन्होंने तो अपने मौलिक ग्रन्थों को कापीराइट कराया नहीं, उसके उपयोग का पूर्ण अधिकार वह पाठकों, भावी लेखकों व प्रकाशकों को दे गये। महर्षि दयानन्द ने भी सत्यार्थ प्रकाश, आर्याभिविनय, ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका, संस्कार विधि, ऋग्वेद-यजुर्वेद भाष्य आदि अनेक ग्रन्थ लिखे, उन्होंने भी उनके उपयोग का अधिकार सर्वसाधारण को दिया फिर उन्हीं की परम्परा में यदि कोई लेखक यह कहता है कि उसके ग्रन्थ का कोई अंश अन्य लेखक बिना अनुमति के कहीं अन्यत्र प्रकाशन आदि में प्रयोग न करें तो यह उचित प्रतीत नहीं होता।

इसी से मिलता-जुलता पुस्तकों के सम्पादन से सम्बन्धित कार्य है। कई विद्वान् पुस्तक के प्रकाशन पर मूल लेखक के साथ सम्पादक के रूप में अपना भी नाम लिख देते हैं। किसी प्रकाशित पुस्तक का सम्पादन करने में सम्पादक की क्या भूमिका होती है, यह हम समझ नहीं पाये। प्राय: ऐसे कार्यों में मूल लेखक दिवंगत हो गया होता है और उसकी कृति महत्त्वपूर्ण व प्रासंगिक होती है। क्या किसी सम्पादक को मूल लेखक की पुस्तक का सम्पादन करते हुए पुस्तक के मूल पाठों को छोड़ने, बढ़ाने या बदलने का अधिकार होता है? हमने अनुभव किया है कि कुछ या अनेक सम्पादक ऐसा करते हैं। इससे पाठक को एक हानि तो यह होती है कि वह लेखक के मूल पाठों से वंचित हो जाता है। हम समझते हैं कि दिवंगत लेखकों की कृतियों को पढ़ते हुए लगता है कि सम्पादक महोदय को अपनी योग्यता का उपयोग पाठों को परिवर्तित करने में नहीं करना चाहिये अपितु यदि वह उचित समझते हैं तो उस संशोधनीय पाठ पर अपनी पाद टिप्पणी दे सकते हैं।

आर्यसमाज का पुराना साहित्य प्राय: उर्दू व अंग्रेजी में भी रचित है। वर्तमान में आर्यसमाज में अधिकांश पाठक हिन्दी के ही हैं। अंग्रेजी व उर्दू के पाठक प्राय: नगण्य हैं। अत: पुराने ग्रन्थों के अनुवाद का महत्त्व निर्विवाद है। जो विद्वान् ऐसे कार्य करते हैं वह आर्य जनता के आदर, श्रद्धा, धन्यवाद व बधाई के पात्र हैं। स्वामी जगदीश्वरानन्द सरस्वती ने पण्डित

मनसाराम द्वारा रचित 'वैदिकतोप' ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद किया जो बहुत ही सरस, सरल व उत्तम है। अन्य भी अनेक ग्रन्थों का उन्होंने अनुवाद किया है। उनके अनुवाद को पढ़कर पता ही नहीं चलता कि वह अनुवाद है, मौलिक ग्रन्थ नहीं है। अभी कुछ दिन पूर्व हमें पं. गुरुदत्त विद्यार्थी की लाला लाजपतराय लिखित अंग्रेजी जीवनी का प्रसिद्ध आर्य विद्वान् डॉ. भवानीलाल भारतीय का किया हुआ हिन्दी अनुवाद पढ़ने का अवसर मिला। हमने अनुभव किया कि यह अनुवाद भी सरल, सुबोध व उत्तम है उसे पढ़ते हुए कोई कठिनाई अनुभव नहीं होती। इसके अनन्तर ही पं. गुरुदत्त लेखावली भी पढ़ी। इस लेखावली में पं. गुरुदत्तजी की अंग्रेजी पुस्तकों का प्रो. सन्तरामजी कृत हिन्दी अनुवाद है। इस लेखावली-ग्रन्थ के अनुवाद की भूमिका में प्रो. सन्तरामजी ने पण्डित जी के कुछ ग्रन्थों के पूर्व किए गए जटिल अनुवादों की सोदाहरण चर्चा की है। पर उनके अनुवाद में भी यत्र-तत्र कुछ स्थल कठिन या जटिल हैं जिसका पूरा भाव पाठक को हृदयंगम नहीं हो पाता। हम इसके एक नये, सुसम्पादित, सटिप्पण, सुरुचिपूर्ण व नयनाभिराम मुद्रण की आवश्यकता का अनुभव करते है। यदि यह कार्य किसी योग्य विद्वान व प्रकाशक द्वारा सम्पन्न हो तो हम अनुभव करते हैं कि यह एक महनीय कार्य होगा। भविष्य में क्या होगा, क्या नहीं होगा, इस पर टिप्पणी नहीं करनी चाहिये परन्तु भविष्य के लिए छोड़े गये कार्य का होना संदिग्ध होता है। हम अनुभव करते हैं कि पण्डित गुरुदत्त विद्यार्थी महर्षि दयानन्द के बाद ज्ञान व प्रतिभा की दृष्टि से अपने समकालीन विद्वानों में योग्यतम विद्वान् थे। उनका जीवन मात्र 26 वर्ष का रहा और उनका अधिक समय डीएवी आन्दोलन के कार्यों में लगा। यदि उनका सारा समय वेदों व आर्यसमाज के सिद्धान्तों पर प्रवचन व लेखन में व्यतीत हुआ होता और उनके सभी लेख व प्रवचन सुरक्षित रहते तो यह वर्तमान व भावी पीढ़ियों के लिए और अधिक उपयोगी व महत्त्वपूर्ण होता। हम समझते हैं कि अनुवादक को जहाँ तक हो सके बहुत ही सरल, सुबोध व सरस अनुवाद करने का प्रयास करना चाहिये जिससे पाठक को लेखक के पूर्ण भाव हृदयंगम हो सकें।

हमने कई ग्रन्थ ऐसे भी देखे हैं जिनमें मुद्रण, ईक्ष्यवाचन वा प्रूफ रीडिंग आदि की बहुत अशुद्धियाँ होती हैं जो पुस्तक को पढ़ते समय चुभती हैं। हम अनुभव करते हैं कि वैदिक साहित्य के प्रकाशन् 'मैसर्स विजयकुमार गोविन्दराम हासानन्द, दिल्ली' द्वारा प्रकाशित ग्रन्थों का मुद्रण नयनाभिराम, सुरुचिपूर्ण व आकर्षक होता है एवं प्रूफ की त्रुटियाँ या तो होती ही नहीं या फिर नगण्य होती हैं। परन्तु यदि हम अन्य प्रकाशनों को देखते हैं तो

ईक्ष्य-वाचन, मुद्रण दोष या प्रूफ रीडिंग की त्रुटियां बहुत होती हैं और यह बात मन को चुभती है। हम यह भी अनुभव करते हैं कि कोई व्यक्ति यदि लेखक, सम्पादक व अनुवादक है तो उसे ग्रन्थों का प्रकाशन किसी अनुभवी प्रकाशक के द्वारा ही कराना चाहिये। कई बार बड़ी अच्छी कृति का स्वरूप व महत्व प्रूफ रीडिंग की त्रुटियों से कम हो जाता है। इससे लेखक व सम्पादक उस प्रकाशन में लगने वाले अपने श्रम व समय को अन्य उपयोगी लेखन कार्यों में लगा सकेंगे और आर्य पाठकों को उनसे अधिक नये ग्रन्थ प्राप्त होंगे। इससे पाठकों को अतिरिक्त लाभ यह होगा कि उन्हें स्वयं प्रकाशित करने वाले लेखक महानुभावों के शुद्ध व आकर्षक प्रकाशन उपलब्ध होंगे। इसी क्रम में हमें लगता है कि 100 या अधिक पृष्ठों की पुस्तकें 'वेदप्रकाश' आकार में भव्य व आकर्षक लगती हैं। प्रायः सभी पुस्तकें इसी आकार में प्रकाशित होती हैं। यदा-कदा कुछ छोटे व कुछ बड़े, कल्याण साइज आदि में भी प्रकाशित होती हैं। यह आकार रुचिकर, भव्य व आकर्षक नहीं लगता। हम सभी लेखकों व प्रकाशकों से निवेदन करते हैं कि वे अपने सभी प्रकाशन 'वेदप्रकाश' आकार में ही करें, तो पाठक इसे अधिक पसन्द करेंगे।

संक्षेप में, हम कहना चाहते हैं कि सम्पादक जहाँ तक हो सके मूल लेखक के पाठ की रक्षा करे व अपनी बात को पाद टिप्पणियों के माध्यम से ही कहे। सम्पादित पुस्तक के आरम्भ में सम्पादक द्वारा लिखित एक विस्तृत भूमिका हो जिसमें ग्रन्थ का महत्त्व, वर्तमान में प्रासंगिकता, उसके पूर्व प्रकाशन का वर्ष, प्रकाशित प्रतियाँ-संख्या व पुस्तक से जुड़ी पृष्ठभूमि व पुस्तक के पूर्व प्रकाशन से नये प्रकाशन तक के इतिहास का सारगर्भित विवरण हो। यदि लेखक महानुभाव किसी ग्रन्थ का अनुवाद करते हैं तो अनुवाद सरल, सुबोध व सरस हो। सभी आर्य विद्वानों लेखकों व प्रकाशकों से निवेदन है कि वह प्रकाशनाधिकार पर सूक्ष्मता से विचार करें एवं जब कभी इस बारे में कुछ कहें या लिखें तो आर्यसमाज के हित को सम्मुख रखकर इससे जुड़ी पूरी पृष्ठभूमि देख लें जिससे पाठकों को उसमें निहित कारणों का ज्ञान हो सके, किसी को कोई भ्रान्ति न हो और **'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्'** के लक्ष्य में बाधा न हो। हमने अपने अध्ययन काल में जो अनुभव किया है, उसे इस लेख में प्रकट किया है। आशा है, इसके विपरीत इस लेख का अन्य कोई अर्थ नहीं लिया जायेगा।

लोकैषणा में डूबता आर्यों का समाज

–*डॉ. पूर्णसिंह डबास*
प्रधान, आर्यसमाज साकेत, दिल्ली

वस्तुतः 'लोक की इच्छा' या लोक में कीर्ति अथवा यश-प्राप्ति की इच्छा मनुष्य की सहज वृत्ति है। हमारे चिन्तन में **पुत्रैषणा, वित्तैषणा** तथा **लोकैषणा** नाम की जिन एषणाओं की चर्चा की गई है उनमें संभवतः लोकैषणा सबसे प्रबल है क्योंकि अनेक बार व्यक्ति पुत्रों और वित्त या धन-सम्पत्ति के द्वारा भी इसी की पूर्ति करते देखे गए हैं। एषणाओं की प्रबलता को देखते हुए वैदिक चिन्तन में बार-बार इन्हें नियन्त्रित या सीमित करने की बात कही गई है। किसी की योग्यता के कारण लोग उसका सम्मान करें या किसी के सुकर्मों के कारण संसार में उसकी ख्याति फैले यह अच्छी बात है लेकिन जब कोई (शायद योग्यता के अभाव में) इसके लिए स्वयं प्रयत्नशील होने लगे, तरह-तरह के उपाय और हथकंडे अपनाने लगे तो यह एक बहुत बड़ा विकार बन जाता है। संसार में कितने ही ऐसे लोग हैं जो बड़ी विचित्र हरकतें करके कुछ पुस्तकों में अपना नाम दर्ज करवाने के लिए लालायित रहते हैं, पुरस्कार प्राप्त करने के लिए भाग-दौड़ करते हैं और अपना सम्मान समारोह आयोजित करने के लिए तिकड़म लड़ाते हैं। वस्तुतः लोकैषणा अहंभाव का ही एक रूपान्तरण है और जैसा कि सर्वविदित है अहं मनुष्य का प्रबल शत्रु है।

हमारे आर्य-जगत् में भी लोकैषणा अनेक रूपों में पाई जाती है। साधु-संन्यासियों के एक विशेष शैली के नामों, समाज के अधिकारियों द्वारा तथा साथ ही स्वयं वक्ताओं द्वारा उनके नामों के साथ जोड़े जाने वाले प्रशंसात्मक विशेषणों, सम्मान-समारोह में सम्मानित होने की इच्छाओं, फूल मालाएँ डलवाने के लिए उत्सुक गरदनों, फोटो खिंचवाने के लिए आगे की ओर उभरे चेहरों, मंच पर बैठने की बेचैनियों तथा अपने सामान्य आयोजनों के साथ बड़े-बड़े विशेषण लगाकर उनको बढ़ा-चढ़ाकर प्रचारित करने आदि की वृत्तियों के रूप में इसकी झलक मिलती है। इन सब एषणाओं को देखकर मुझे लगता है कि तीन एषणाओं की उक्त संख्या में हमें माला एषणा या पुष्प-गुच्छ एषणा, फोटो-एषणा तथा मंच-एषणा जैसी नई एषणाओं को भी जोड़ देना चाहिए। इसी क्रम में आजकल एषणा की एक नई कड़ी भी जुड़ रही है जिसके अन्तर्गत मोबाइल फोन पर किसी 'महात्मा' या 'महाराज' को जन्म दिवस आदि पर बधाई देने के संदेश प्राप्त होने लगे हैं। स्वाभाविक है ये संदेश लोकैषणा से ग्रस्त उन 'महाराजों' या 'महात्माओं' द्वारा अपने 'शिष्यों' द्वारा प्रायोजित कराए गए होते हैं। शायद ऐसे

संदेश न भिजवाने से 'महात्मा जी' को अपनी आत्मा 'महा' न लगकर छोटी लगने लगती है। नीचे इन्हीं वृत्तियों पर संक्षेप में विचार किया जा रहा है।

आर्यसमाजी क्षेत्रों में लोकैषणा का एक प्रमुख रूप विद्वानों या वक्ताओं के नामों के साथ लगे विशेषणों में स्पष्ट रूप से झलकता देखा जा सकता है। ये विशेषण कभी तो वक्ताओं या विद्वानों द्वारा स्वयं अपने नामों के साथ जोड़ लिए जाते हैं और कभी समाजों के अधिकारियों द्वारा। ऐसे विशेषण जोड़कर एक सीमा तक अधिकारी भी अपनी लोकैषणा की तृप्ति या ठीक-ठीक कहें तो पुष्टि करते हैं, कि देखो हमने कितने बड़े विद्वान् को आमन्त्रित किया है। विभिन्न समाजों के कार्यक्रमों या उत्सवों आदि के विज्ञापनों में अनेक बार कई वक्ताओं के साथ कोष्ठक में उनके नगर-नाम या स्थान-नाम का भी उल्लेख किया जाता है जिससे लगता है कि बाकी वक्ताओं का कोई नगर या स्थान है ही नहीं। एक कार्यक्रम में तो एक वक्ता के नाम के साथ कोष्ठक में यमुनापार लिखा देखकर मैं आयोजकों के भूगोल-ज्ञान पर मुग्ध हो गया था।

विभिन्न विज्ञापनों में, वक्ता-नामों के साथ जो विशेषण, या विशेषण की तरह धारण किए हुए उपनाम मुझे देखने को मिले हैं वे कुछ इस प्रकार है: वैदिक प्रवक्ता, वैदिक प्रवक्ता एवं धर्माचार्य, वैदिक गवेषक, वैदिक विचारक, वैदिक विद्वान्, युवा विद्वान्, आशुकवि तथा आर्यवीर आदि। इनमें से वैदिक विद्वान्, वैदिक विचारक, आशुकवि तथा युवा विद्वान् जैसे विशेषण तो वक्ताओं के साथ प्रायः आर्यसमाजों के अधिकारियों द्वारा जोड़ दिए जाते हैं। 'वैदिक विद्वान्' का विशेषण ऐसे वक्ताओं के साथ जोड़ा जाता है जिनके पास कोई विशेष उपाधि नहीं होती और बिना कुछ जोड़े उन्हें नाम अधूरा-सा लगता है। इस विशेषण से तो यह भी लगता है कि विज्ञापन में उल्लिखित शेष वक्ता 'अवैदिक विद्वान्' हैं। 'युवा विद्वान' ऐसे प्रभावी युवा वक्ता के लिए जोड़ा जाता है, जो लोगों की अपेक्षा के प्रतिकूल, युवावस्था में ही विद्वान् हो गया है अन्यथा तो उसे बुढ़ापे में विद्वान् होना चाहिए था। इसके विपरीत 'वृद्ध विद्वान्' किसी के साथ नहीं जोड़ा जाता। इसके अतिरिक्त वैदिक प्रवक्ता, वैदिक प्रवक्ता एवं धर्माचार्य, वैदिक गवेषक तथा वैदिक विचारक आदि के विशेषण अपना महत्त्व प्रदर्शित करने के लिए वक्ता स्वयं अपने नामों के साथ लिखते देखे गए हैं। सम्भवतः ये भी ऐसे ही वक्ता होते हैं जिनके पास कोई अन्य उल्लेखनीय उपाधि नहीं होती। इसका यह अर्थ नहीं है कि इनमें अच्छे वक्ता नहीं होते लेकिन बात, अपने नाम के साथ कुछ जोड़कर अहं या एषणा-पूर्ति की है।

हमारे यहाँ वानप्रस्थ या संन्यास आश्रम में दीक्षित होने पर नाम या वेश

बदलने की परम्परा है। ये अधिकांश नाम ऐसे होते हैं जिनसे वैराग्य, आनंद, मोक्ष की कामना तथा वेदों से जुड़े होने का भाव झलकता है। इन में से अनेक नामों के साथ आनंद, भिक्षु, विरक्त तथा मुनि आदि शब्द लगे होते हैं। 'आनन्द' लगे नाम तो हजारों की संख्या में हैं। इधर कुछ वर्षों से वेश मूलक नामों का प्रचलन भी दिखाई देता है। इसमें कोई संदेह नहीं कि ऊपर उल्लिखित नामों में से अनेक महानुभावों ने पवित्र जीवन जिया है एवं विद्वत्ता भी प्राप्त की है। लेकिन मेरा कहना यही है कि वह पवित्रता और विद्वत्ता उनके नाम या वेश के कारण नहीं आई बल्कि उनके पूरे जीवन की तपश्चर्या का परिणाम है अन्यथा तो ऐसे नामों के मूल में किसी न किसी रूप में नाम धारण करने वाले या करवाने वाले की लोकैषणा ही काम कर रही है। मुझे तो लगता है कि नाम और वेश बदलने के पीछे परम्परा ही प्रबल है, तर्क और वैज्ञानिक दृष्टिकोण नहीं।

मुख्यत: वेश और नाम के प्रति हमारे समाज में फैले आदर और सम्मान का लाभ उठाने के लिए अनेक कुपात्र, और यदि अधिक स्पष्ट शब्दों में कहा जाए तो मूर्ख और अपराधी तक इस वेश को धारण करके छद्म साधु-संन्यासी बन गए और समाज का आदर-सम्मान पाने लगे। साधु और संन्यासी की वृत्ति को धारण करना बहुत ही कठिन है और परिस्थिति, स्थान तथा वेश बदलना बहुत ही सरल। इसी का परिणाम है कि देश में वास्तविक साधु-संन्यासियों की तुलना में कपटवेशी साधुओं की संख्या ज्यादा है। वस्तुत: धर्म का सम्बन्ध परिस्थिति या वेश बदलने से नहीं है बल्कि मन:स्थिति बदलने से है। अगर किसी में घृणा और अहंकार के भाव भरे हैं तो जंगल या पर्वत पर जाने से उसका क्या होगा? वह वहाँ भी घृणा और अहंकार से भरा रहेगा। मुख्य बात जगह को नहीं, स्वयं को बदलना है। परिणामत: संन्यासी होना वस्त्र बदलने का नाम नहीं है। वह तो पूरे अंतस का परिवर्तन है। वह धीरे-धीरे होने वाला एक विकास है। वह कोई चमत्कार नहीं है, निरन्तर की साधना है। जिनमें यह बदलाव या विकास नहीं होता वे संन्यासी भी मंदिरों, मठों और शोध-केन्द्रों के नाम पर बड़ी-बड़ी गृहस्थियाँ बसा लेते हैं और उनके प्रति मोह तथा आसक्तियों में फँस जाते हैं।

त्याग-वैराग्य के नाम पर लोकैषणा से ग्रस्त, मैं अपने एक परिचित का उदाहरण आपके सामने रखना चाहूँगा। वे हमारी समाज में प्रवचन के लिए आते थे। पुराने उपदेशक थे और विषय को रोचक बनाकर बोलते थे। उन्होंने वानप्रस्थ की दीक्षा ले ली। इसके बाद जब मैंने एक कार्यक्रम के लिए उनकी स्वीकृति माँगी तो स्वीकृति प्रदान करते हुए उन्होंने कहा—'डबास जी! मैंने वानप्रस्थ ले लिया है। अब तो विज्ञापनों में मेरे नाम के साथ

महाराज जोड़ दिया करें।' मुझे झटका-सा लगा। लोग किसी को 'महाराज' शब्द से संबोधित करें अच्छी बात है लेकिन कोई महाराज कहलवाने के लिए लालायित रहे तो यह लोकैषणा या अहं का पोषण ही होगा। एक बात और, उन्होंने वेश और नाम तो बदल लिया था, जो सरल काम है लेकिन उनकी वृत्ति नहीं बदली। महाराज बनने के कुछ ही समय बाद उन्होंने प्रॉपर्टी डीलिंग तथा भवन निर्माण का कार्य शुरू कर दिया। वे इस दिशा में किसी भी धन-लोलुप गृहस्थ के समान व्यस्त हो गए और गृहस्थाश्रम में जो सम्पत्ति अर्जित नहीं कर पाए थे, वह कर डाली। कुछ ही महीनों में उनका महाराजपना लुप्त हो गया।

बहुत छोटी-छोटी शिक्षण संस्थाओं और बहुत छोटे-छोटे गुरुकुलों के स्वामी अपने नाम के साथ कुलपति और कुलाधिपति जैसे विशेषणों का प्रयोग करते हैं। मैं ऐसे ही एक कुलाधिपति और उनके आश्रम को जानता हूँ। वे अपनी गाड़ी के आगे कुलाधिपति की प्लेट लगाए घूमते हैं। जहाँ तक उनके कुल की बात है वहाँ मैंने सिवाए भवन और एक छोटी-सी गोशाला और भैंसशाला के कभी विद्यार्थी नहीं देखे। मुझे पता लगा है कि दिल्ली की एक आर्ष संस्था, जिसकी हैसियत दसवीं कक्षा का प्रमाण पत्र देने की भी नहीं है डॉक्टरेट (पी-एच.डी.) की डिग्री देने लगी है। इस डिग्री से उसके लेने वाले को कृतार्थ करने के कारण संस्था के आचार्य तो स्वयं को गौरवान्वित अनुभव कर ही रहे हैं। डिग्री-धारक भी अपने नाम के साथ उसको जोड़कर फूले नहीं समा रहे हैं।

जहाँ तक आर्यसमाज से सम्बद्ध गायकों या भजनीकों की बात है ओजस्वी और राष्ट्र भक्ति के गीत गाने वाले गायक अधिक नहीं हैं। अच्छे संगीतज्ञ भी कम हैं। ये सब अपने नामों के साथ तो शायद ही किसी विशेषण का प्रयोग करते हों लेकिन इसकी कसर इन्हें आमन्त्रित करने वाली समाजों के अधिकारी पूरी कर देते हैं। वे सभी को प्रसिद्ध या विख्यात गायक लिखते हैं और यदि उनमें से किसी ने रेडियो या टी.वी. पर कोई कार्यक्रम प्रस्तुत कर दिया हो तो उन्हें विश्वविख्यात लिखा जाता है। इस प्रकार 'विख्यात' या 'विश्व विख्यात' भजनीकों को आमन्त्रित करके समाजों के अधिकारी तो अपने आपको ऊँचे दर्जे के कार्यक्रमों के आयोजक होने का सुख प्राप्त करते ही हैं, इन विशेषणों की खुराक देकर भजनीकों को भी उनके 'कुछ होने' का अहसास कराते हुए उनकी अहं वृद्धि में भी सहायक होते हैं।

लोकैषणा एवं तृष्णा बहुत भयंकर बीमारियाँ हैं जिनसे विरले व्यक्ति ही बच पाते हैं। इस प्रसंग में पंचतंत्र के पाँचवें तंत्र की बिना अक्ल के नकल नामक कहानी पढ़ने योग्य है जिसमें दिगम्बर जैनी भिक्षुओं के

माध्यम से उन साधु-संन्यासियों या श्रावकों की दुर्गति का चित्रण है जो सब कुछ त्यागने के बाद भी तृष्णा या प्रलोभन से मुक्त नहीं हो पाते। पंचतंत्र का लेखक कहता है:

एकाकी गृहसंत्यक्तः पाणिपात्रो दिगंबर।
सोऽपि संवाह्यते लोके तृष्णाया पश्य कौतुकम्॥

अर्थात् यह भी कितनी विचित्र बात है कि जो लोग धन-दौलत, घर-परिवार सभी को छोड़कर संन्यास ले लेते हैं, जिनके त्याग का हाल यह है कि वे अपने शरीर पर वस्त्र तक धारण नहीं करते, नंगे ही रहते हैं और सीधे हाथ की अंजुलि बनाकर उसमें ही जो आ जाता है उसे खाकर संतुष्ट हो जाते हैं, उन त्यागी जनों में भी तृष्णा बनी रहती है और वे इसके चक्कर में आ जाते हैं।

आइए! अब आर्य समाजों के अधिकारियों की एषणा पर भी कुछ चर्चा करते हैं। उनकी एषणा और अहंभाव उनके कार्यक्रमों के विज्ञापनों और रिपोर्टों में साफ झलकते हैं। उदाहरण के लिए उनका हर कार्यक्रम भव्य होता है, हर आयोजन विशाल होता है, हर प्रदर्शन प्रचंड होता है, हर सम्मेलन महा सम्मेलन होता है, हर यज्ञ महायज्ञ होता है, हर शोभायात्रा में अपार भीड़ होती और हर उत्सव अत्यन्त सफल होता है। इन सब महानताओं, भव्यताओं, विशालताओं, प्रचंडताओं और सफलताओं के बावजूद वस्तुस्थिति यह है कि देश में पाखंड बढ़ रहा है, वैष्णव देवी और तिरुपति-'दर्शन' के लिए जाने वालों के नए-नए कीर्तिमान स्थापित हो रहे है; मनोकामना पूर्ति के लिए काँवड़ में जल लाकर मूर्तियों पर चढ़ाने वालों की भीड़ में दिन-दूनी रात चौगुनी गति से वृद्धि हो रही है। स्वयं आर्यसमाजों के अनेक सदस्य मंदिरों और ज्योतिषियों के चक्कर लगा रहे हैं, शराबखोरी और मांसाहार फैल रहा है तथा विदेशी मिशनरी धर्मान्तरण के माध्यम से हमारी संख्या को लील रहे हैं लेकिन हम 'आर्यवीर' इन बड़े-बड़े विशेषणों से अपना ढिंढोरा पीटकर अपने अहं और एषणा का पोषण कर रहे हैं। इतना ही नहीं, अपनी एषणा-वश सत्यार्थप्रकाश को ताम्र पत्रों पर लिखवाया जा रहा है और बड़ी कठिनाई से धन माँग-माँग कर महर्षि पाणिनि रचित अष्टाध्यायी के सूत्रों को पत्थरों पर खुदवाया जा रहा है। सत्यार्थप्रकाश को पढ़ने की क्षमता कम हो रही है लेकिन सत्यार्थप्रकाश स्तम्भ के निर्माण में करोड़ों रुपये नष्ट किए जा रहे हैं। महर्षि दयानन्द की विचारधारा जन-जन तक पहुँचाने की बजाए उसे स्थापत्य कला के जड़-निर्माण द्वारा स्थायी करने के प्रयास किए जा रहे हैं। सारा उत्तरी-पूर्वी भारत ईसाइयत की चपेट में आ चुका है और हमारी समाजों में 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' के प्राणहीन नारे लगाए जा रहे हैं। आदिवासी क्षेत्रों में एक

मुट्ठी चावल के लिए व्याकुल बच्चे विधर्मियों की गोद में जा रहे हैं और यहाँ भव्य ऋषि लंगरों के आयोजन में धन खपाया जा रहा है। हम नागरिकों के बच्चे, दो-तीन सौ रुपये का पिज्जा खा कर अपनी तोंद बढ़ा रहे हैं लेकिन हम दूर वनांचलों में जाकर अभावग्रस्त बच्चों को दो सूखी रोटी देने की दिशा में कोई प्रयत्न नहीं कर रहे। वैदिक चिन्तन के प्रचार-प्रसार के लिए जीवन अर्पित कर देने वाले कुछ उत्साही आचार्यों द्वारा उड़ीसा एवं नागालैंड के सुदूरवर्ती क्षेत्रों में छप्परों में स्थापित छात्रावासों में प्रतिकूल तत्त्वों द्वारा आग लगाई जा रही है। और हम महानगरीय आर्य अपने मंदिरों को भव्य और वातानुकूलित बनाने की होड़ में जुटे हुए हैं। आर्यत्व शिथिल होता जा रहा है और शायद ही कोई आर्य परिवार हो जो कभी-न-कभी विभिन्न देवी-देवताओं और भविष्यवक्ता ज्योतिषियों की शरण में न गया हो। हमारे पुरोहित यजमानों के अनुकूल बनते जा रहे हैं और नव ग्रहों को शान्त करने के मन्त्र बोलने लगे हैं। हमारी शिरोमणि संस्थाएँ तक विग्रह और वैमनस्य से ग्रस्त हैं और हम विश्वशांति यज्ञ करा रहे हैं। रोग-निवारण के लिए महामृत्युंजय मन्त्र का एक टोटके की तरह इस्तेमाल होने लगा है। देश के कोने-कोने में महर्षि का विचार पराजय के कगार पर है और हम 'कर गया बेड़ा पार वो मस्ताना जोगी' का गीत गाकर स्वयं को छल रहे हैं।

जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है यदि लोकैषणा के उपवर्ग बनाएँ तो उन में माला-एषणा का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। मैंने अपनी समाज के एक उत्सव में दो-तीन आमन्त्रित वक्ताओं को तो माला पहनाकर सम्मानित करवा दिया और शेष आगन्तुकों का हार्दिक स्वागत कर दिया। एक आर्य संगठन के अधिकारी या कहिए पदाधिकारी भी कुछ श्रोताओं के साथ कुर्सी पर विराजमान थे। वे अपेक्षा कर रहे थे कि मैं उन्हें मंच पर बैठने के लिए आमन्त्रित करूँगा और मालाएँ डलवाकर स्वागत भी करूँगा। मैं तो अपने कार्यक्रमों में स्वयं ही कभी मंच पर नहीं बैठता अत: उनकी उक्त अपेक्षा की तरफ मेरा ध्यान ही नहीं गया। परिणाम यह हुआ कि वे कार्यक्रम के समाप्त होते ही बिना प्रीति भोज किए बड़ी तेज चाल से मंदिर से बाहर निकल कर बस स्टॉप की ओर चल दिए। हमारे तत्कालीन सौम्य स्वभाव मन्त्री जी ने अपनी वृद्धावस्था का ख्याल न करते हुए भागने की-सी गति से उनको जा पकड़ा और प्रीति भोज करके जाने का निवेदन किया। वे क्रोध में भड़कते हुए बोले-'यहाँ मेरा अपमान हुआ है। अमुक आर्यसमाज के उत्सव में मुझे तीन-तीन मालाएँ पहनाकर सम्मानित किया गया था। यहाँ पर एक भी नहीं पहनाई गई।' क्षमा माँगते हुए हमारे मन्त्री जी बड़ी कठिनाई से उनको प्रीति भोज के लिए वापस लाए। वस्तुत: वे उत्सवों में अपना स्वागत करवाने ही जाते थे। सुना-सीखा उन्होंने कुछ भी

नहीं। जैसा मैंने उन्हें चालीस साल पहले देखा था वे उस समय भी वैसे ही कोरे-के-कोरे थे। कबीर की पंक्तियों-ज्यों की त्यों धर दीनी चदरिया में उनका विश्वास कुछ ज्यादा ही था। मुझे लगता है कि ज्यों की त्यों की बजाए यदि चदरिया को धोकर धरते तो ज्यादा अच्छा रहता।

इसके विपरीत कभी-कभी तो संस्थाओं के वे अधिकारी जो सम्मानित करते या कहिए माला पहनवाते हैं, अपने आपको सम्मानित होने वाले से बड़ा मानते हैं। एक बार एक उत्सव के संयोजक, जहाँ मैं भी वक्ता के रूप में आमन्त्रित था, इस तरह सम्मान बाँट रहे थे जैसे कोई दंभी साहूकार निर्धनों को खैरात बाँट रहा हो। वे एक बहुत छोटे-से सरकारी पद से अवकाश प्राप्त थे और अनेक वर्षों से उस संस्था के उत्सवों का संयोजन कर रहे थे। यह अधिकार सुख उनके लिए कितना मादक बन गया था यह उनकी सम्मान-शैली से प्रकट हो रहा था। वे श्रोताओं में से छाँट-छाँट कर लोगों को पुकार रहे थे—'ये हमारे बुजुर्ग हैं, इनको भी माला डाल दो...फलाँ जी आप भी आ जाओ...इनको भी एक माला पहना दो। कोई बच तो नहीं गया? फिर उन्होंने मंच की तरफ दृष्टि घुमाई और मंच पर केसरिया पगड़ी-कुरते और सफेद धोती में विराजमान लगभग 60 वर्षीय एक सज्जन का नाम लेकर बोले—'अरे, खड़ा हो जा माला डलवा ले।' मैं बड़ी दुविधा में था कि वे सम्मान कर रहे हैं या अपमान! कार्यक्रम को बीच में रोक कर किए गए इस सम्मान-नाटक में उन्होंने पूरे चालीस मिनट खपा दिए थे। अभी मुझे और मेरे साथ बैठे मेरे एक पूर्व परिचित संन्यासी जी, दो वक्ताओं को और बोलना था तथा उत्सव का निश्चित समय पूरा होने में केवल पाँच मिनट बाकी रह गए थे। संयोजक ने संन्यासी जी का नाम उद्‌बोधन के लिए पुकारा तो मैंने उनसे निवेदन किया कि आप पाँच मिनट बोलकर शान्ति पाठ करा दें। संन्यासी जी भी संयोजक की शैली से काफी अप्रसन्न हो चुके थे और उन्होंने समय समाप्ति का हवाला देते हुए ठीक पाँच मिनट बाद शान्ति पाठ करा दिया। संयोजक ने इसके बाद भी मुझसे निवेदन किया कि आप भी दो मिनट बोल दें। मेरा कहना था कि मैं ऐसा सिद्ध पुरुष या महात्मा नहीं हूँ कि ऊपर हाथ उठाकर श्रोताओं को आशीर्वाद देते हुए कृतार्थ कर सकूँ।

फूल-मालाओं द्वारा स्वागत की इस परम्परा में माला पहनने वाले तथा पहनवाने वालों के साथ एक वर्ग वह भी है जो माला पहनाता है। अनेक आगन्तुकों या वक्ताओं को कई-कई मालाएँ भी पहनाई जाती हैं परिणामतः माला पहनाने वाले अनेक महानुभावों की जरूरत पड़ती है। अब अमुक का स्वागत अमुक करेंगे और अब इनका स्वागत ये करेंगे' के क्रम में अनेक व्यक्तियों में माला पहनाने की एषणा भी जागृत हो जाती है। कई सदस्य

इसलिए नाराज हो जाते हैं कि अमुक से तो स्वागत करवाया गया लेकिन उनसे नहीं करवाया गया। उन्हें किसी के स्वागत-अस्वागत से कोई सरोकार नहीं है, उन्हें तो उठकर केवल यह दिखाना होता है कि उन्हें भी स्वागत करने के योग्य समझा गया।

मंचेषणा भी एक प्रबल एषणा का रूप धारण करती जा रही है। भला विशिष्ट बनकर ऊपर बैठना किसे अच्छा नहीं लगेगा। वक्ता भी मंचासीन महानुभावों को अलग से संबोधित करता है। यही कारण है कि मंचों पर बैठने की होड़-सी लगी रहती है। कुछ को तो आयोजक मंच पर बैठने के लिए आमन्त्रित करते हैं लेकिन कुछ का ऐसा अभ्यास है कि सीधे मंच की ओर ही लपकते हैं। यदि किसी राजनेता को आमन्त्रित किया गया है तो उसके साथ लगे रहने वाले तीन-चार छुटभैये भी धड़ल्ले से मंच पर सवार हो जाते हैं। एक आर्यसमाज के वार्षिकोत्सव के अवसर पर मंच-प्रेमियों की अत्यधिक संख्या के कारण मंच का क्षेत्रफल काफी कम पड़ गया। परिणाम यह निकला कि मंच के बिल्कुल कोने पर स्थापित एक 'सम्मानित अतिथि' अपने से आगे वाले के एक दम पीछे सरकने के कारण सिर के बल धराशायी हो गया और उसको व्यवस्थित करने में कार्यक्रम को पाँच मिनट का विराम देना पड़ा।

क्या हम ऐसा नहीं कर सकते कि मंच का अध्यक्ष तथा संयोजक दो व्यक्ति ही बैठें और शेष–आशीर्वादक, मुख्य वक्ता, विशिष्ट वक्ता, मुख्य अतिथि, विशिष्ट अतिथि, प्रतिष्ठित अतिथि, सामान्य अतिथि या (श्रोताओं के अतिरिक्त) किसी दूसरी किस्म के जो भी अतिथि या विशेष आमन्त्रित जो भी आपने बुला रखे हों उन्हें मंच के सामने प्रथम पंक्ति में, या मंच के दाएँ-बाएँ किसी अन्य उपयुक्त स्थान पर आसन प्रदान करें। इसके साथ ही क्या यह करना कोई कठिन काम है कि तीन घंटे के कार्यक्रम में, पूर्व स्वीकृति लेकर, केवल तीन-चार प्रभावी वक्ताओं/गायकों को ही आमन्त्रित करें तथा वक्ताओं की भीड़ इकट्ठी करके, बाद में उन्हें बोलने के लिए दो-दो, तीन-तीन मिनट का समय देकर, विचार-क्रम को विश्रृंखलित न करें। क्षमा कीजिए, विचार-क्रम को विश्रृंखलित करने की बात मैं गलती से कह गया क्योंकि हमारे उत्सवों में तो विचारों का कोई क्रम या उनकी श्रंखला प्रायः होती ही नहीं। वक्ताओं को कोई विषय दिया ही नहीं जाता। उन्हें 'विषयों के बन्धन से मुक्त' रखकर बिल्कुल खुला छोड़ दिया जाता है कि जो मर्जी हो, वही बोल जाए।

हमारे विज्ञापन भी लोकैषणा के जीते-जागते गवाह हैं। ऊपर जिन तरह-तरह के अतिथियों और आमन्त्रितों की चर्चा की गई है, संख्या की दृष्टि से उनके कुछ उदाहरण देना चाहूँगा। एक महासम्मेलन का विज्ञापन

(पोस्टर) मेरे सामने है इसमें संयोजक शीर्षक के नीचे पचीस नाम प्रकाशित गए हैं। इसके कुछ नीचे एक आयोजन समिति भी दी गई है और इसके अन्तर्गत चौंसठ नाम प्रकाशित किए गए हैं। जब कार्यक्रम हो रहा है तो उसमें आमन्त्रित करने या निवेदन करने वालों का होना भी आवश्यक है परिणामतः इसी विज्ञापन में निवेदकों के सैंतीस नाम छपे हैं। इनके अतिरिक्त एक बड़ी सूची विशिष्ट सहयोगियों की भी है। इसी संस्था के एक अन्य कार्यक्रम का पोस्टर भी मेरे सामने है। यज्ञ सहित साढ़े तीन घंटे के उस कार्यक्रम में अध्यक्ष के अतिरिक्त 15 मुख्य वक्ता हैं। शुक्र है गौण वक्ताओं की सूची नहीं दी गई। लेकिन एक अन्य सूची दी गई है जिसका शीर्षक है–आमन्त्रित आर्य नेता। इसके अन्तर्गत नब्बे (90) नेताओं के नाम प्रकाशित किए गए हैं। जब इतने सारे अतिथि और नेता आमन्त्रित किए जाते हैं तो उनके लिए एक अच्छी खासी स्वागत-समिति भी होनी ही चाहिए। परिणामतः मेरी दृष्टि से अनेक ऐसे पोस्टर भी गुजरे हैं जिनमें इस समिति के अन्तर्गत 25-30 नामों का प्रकाशित किया जाना सामान्य बात है। इनके अतिरिक्त दिल्ली के एक संस्थान का पोस्टर भी मुझे इन पंक्तियों के लिखते समय प्राप्त हुआ है। इसमें अध्यक्ष, उद्घाटनकर्त्ता, आशीर्वचन प्रदाता, विषय प्रवर्तक, मुख्य अतिथि, मुख्य वक्ता, उपदेशक, संयोजक तथा धन्यवाद ज्ञापक आदि शीषर्कों के अन्तर्गत तो विभिन्न नाम हैं ही अन्तिम पृष्ठ पर एक संयोजक-समिति (संयोजन-समिति होता तो ज्यादा अच्छा था) भी दी गई है जिसके अन्तर्गत 75 नाम दर्ज हैं। नामों के साथ कोष्ठक में कहीं उनके स्थान-नाम, कहीं व्यवसाय-नाम और कहीं उन समाजों के नाम दिए गए हैं जिनसे वे संबद्ध हैं।

आर्यसमाजों के अधिकारियों की लोकैषणा का एक उदाहरण अपनी ही समाज से प्रस्तुत करना चाहूँगा। मेरा विचार रहा है कि कार्यक्रमों के निमन्त्रण-पत्रों में निवेदक के रूप में समाज के अधिकारियों सहित महिला समाज की अधिकारिणियों के जो नाम प्रकाशित किए जाते हैं उनको कम किया जाए। इसी विचार को ध्यान में रखते हुए कई वर्ष पहले मैंने (प्रधान के रूप में) अपनी समाज के मन्त्री जी से निवेदन किया कि वे निवदेक के रूप में केवल अपना नाम और पद-नाम छपवाकर ही उत्सव के निमन्त्रण पत्र भेज दें। उन्होंने ऐसा ही कर दिया। हालांकि इस विषय में मैंने दो-तीन सदस्यों से राय ले ली थी लेकिन बाद में जो प्रतिक्रिया प्राप्त हुई

उससे पता चला कि कई अधिकारी और वरिष्ठ सदस्य इससे प्रसन्न नहीं थे। हालांकि वह प्रतिक्रिया धीमी थी लेकिन प्रतिक्रिया तो थी ही। परिणाम यह हुआ कि पोस्टर फिर से पहले की तरह ही छपने लगे।

समाजों के अधिकारी अपनी लोकैषणा की पुष्टि करने के साथ-साथ जनता में भी लोकैषणा जागृत करते हैं। लोकैषणा की यह जागृति धन-प्राप्ति के लिए, पत्थर पर नाम लिखवाने तथा पुण्य-प्राप्ति के प्रलोभन के रूप में की जाती है। परिणामतः अनेक दानियों के पीछे इसी प्रलोभन की प्रेरणा अधिक होती है, लोकोपकार और सामाजिक दायित्व निर्वहन करने की कम। हमारी समाज में भी पहले दानियों के नाम पत्थर पर लिखवाए जाते थे लेकिन व्यक्तिगत रूप से मैं इस परिपाटी से सहमत नहीं था। सन् 1999 में जब हमने भवन में परिवर्तन-परिवर्धन किया तो दीवार के कुछ ऐसे भाग भी हटाने पड़े जिन पर दानियों की नामावली वाले पत्थर लगे थे। साथ ही यह निर्णय लेने का विचार भी आया कि भविष्य में ऐसे पत्थर न लगवाए जाएँ। कई वरिष्ठ सदस्य इस से सहमत नहीं थे और उनका कहना था कि पत्थर पर नाम अंकित करने के लिए दान राशि बढ़ाई जा सकती है लेकिन पत्थर तो लगाना ही चाहिए। खैर! इस विषय में मेरे रुख का सम्मान करते हुए सदस्यों ने मेरी बात मान ली। पत्थर के विकल्प के रूप में अब हम एक निश्चित राशि से ऊपर दान देने वालों के नाम अपनी वार्षिक रिपोर्ट में प्रकाशित करते हैं। यदि सदस्यों ने पत्थर न लगवाने का वह निर्णय न लिया होता हो मुझे पक्का विश्वास है कि भविष्य में हमें पत्थर लगवाने के लिए आस-पास की कोई बिल्डिंग अवश्य ही किराए पर लेनी पड़ती।

पत्थर लगाने का लोकैषणामूलक यह चलन कम होने के स्थान पर बढ़ता ही जा रहा है। इन पंक्तियों के लिखते समय मुझे हरियाणा की एक प्रसिद्ध संस्था के एक बड़े उत्सव का निमन्त्रण मिला है जिसमें दानियों की लोकैषणा को प्रेरित करते हुए लिखा गया है:

1. 2100 रु. से अधिक दान देने वाले सज्जनों, समाजों और ग्रामों के नाम पत्थर पर अंकित किए जाएंगे।

2. 11000 रु. से अधिक दान देने वालों के नाम का अलग से पत्थर लगेगा।

3. एक लाख या इससे अधिक रु. दान देने वाले सज्जनों के नाम का अलग से पत्थर तथा चित्र गुरुकुल के प्रमुख स्थल पर लगेगा।

लोकैषणा को हतोत्साहित करने के लिए हमारे यहाँ एक कहावत प्रचलित है-'नेकी कर और दरिया में डाल', लेकिन मुझे लगता है कि अब इसके स्थान पर एक नई कहावत चलेगी-'नेकी कर और पत्थर पर खुदवा।'

पुनः प्रकाशित पुस्तकें

वैदिक सिद्धान्तों पर

सहेलियों की वार्ता पं. सुरेशचन्द्र वेदालंकार रु. 25.00

वैदिक सिद्धान्त अपने आपमें सत्य, सनातन और शाश्वत हैं। इन्हीं वैदिक सिद्धान्तों और आर्यसमाज के दृष्टिकोण को सर्वसाधारण को समझाने के लिए लेखक ने इन्हें प्रश्नोत्तर शैली में अत्यन्त रोचक व सरल भाषा में प्रस्तुत किया है।

इस पुस्तक का यही उद्देश्य है कि यदि वैदिक सिद्धान्त हमारे मस्तिष्क में बैठ जाएँ तो हम वैदिक और अवैदिक सिद्धान्तों के अन्तर को समझने में समर्थ होंगे। और इनके प्रचार-प्रसार द्वारा ही हमारे सभी कष्ट दूर हो सकते हैं।

आइए महर्षि दयानन्द द्वारा प्रदर्शित गई ज्ञानलोक की इन किरणों से अज्ञान के अन्धकार को दूर भगाएँ।

आर्य-पर्व पद्धति

पं. श्री भवानी प्रसाद रु. 90.00

पर्वों-त्योहारों तथा महात्माओं, महापुरुषों के जन्मोत्सव, विजयोत्सव व धर्मोत्सव को मनाना हमारी परिपाटी है। आर्य शताब्दी सभा द्वारा स्वीकृत यह पर्व-त्योहार पद्धतियाँ हमें पर्वों का शुद्ध व सत्यस्वरूप जानने में अत्यन्त सहायक सिद्ध होगी। इस पुस्तक से मार्गदर्शन प्राप्त कर समस्त आर्यजगत् में त्योहार एक विधि से मनाये जाएँ, यही इसका उद्देश्य है।

मेरे पिताः संस्मरण

पं. इन्द्र विद्यावाचस्पति रु. 90.00

कोई व्यक्ति बुरी राहों पर चलकर भी, यदि जीवन को सुधारने का प्रबल संकल्प कर ले, तो वह कल्याण-मार्ग का पथिक बन सकता है-इस उक्ति को चरितार्थ करने वाला स्वामी श्रद्धानन्दजी का यह जीवन वृतान्त उन्हीं के पुत्र द्वारा लिखित, अत्यन्त महत्वपूर्ण है। स्वामीजी के आदर्श जीवन को प्रस्तुत करते पं. इन्द्रजी के यह भावपूर्ण संस्मरण, स्वामीजी की याद को सदैव जीवित रखेंगे।

स्वामी श्रद्धानन्दजी का जीवन, विचार और कार्य इस पुस्तक के माध्यम से देश-विदेश में और अधिक तीव्रता से प्रसारित होकर सभी को प्रेरित करे, यही इस पुस्तक के प्रकाशन का उद्देश्य है।

प्राप्ति स्थान :
विजयकुमार गोविन्दराम हासानंद
4408, नई सड़क दिल्ली-6
दूरभाषः 01123977216, 65630255

नया प्रकाशन

मेरे अनुभवः मेरा चिन्तन प्रो. रामविचार रु. 100.00

यह ग्रन्थ न केवल प्रो. रामविचारजी की जीवन यात्रा तथा कार्यों को दर्शाता है, बल्कि यह एक युग की कथा है। त्याग, समर्पण, कर्मठता, लग्न, निष्ठा, स्वाभिमान आदि नैतिक मूल्यों का पाठ है। इसे पढ़कर आप जानेंगे कि 53 वर्षों की इस यात्रा को 'वेद सन्देश' के यशस्वी लेखक प्रो. रामविचारजी ने कैसे प्राध्यापक, आर्यसमाज के कार्यकर्त्ता, धन संग्रहकर्त्ता, वक्ता तथा लेखक के रूप में पूरी की। यह मनोरंजक कथा लेखक के जीवन की कुछ मीठी-कड़वी यादें हैं, जिन्हें पढ़कर पाठक अवश्य लाभान्वित होंगे।

पुनः प्रकाशित पुस्तकें

Quest: The Vedic Answers by Madan Raheja Rs. 125.00

Mr. Madan Raheja's book provide answers to over 150 questions which often beleaguer even the most intelligent mind. An intelligent reading of the book removes many cobwebs in understanding the intricate problems of life and death, pleasures and pains, birth and re-birth, bondage and emancipation etc. and corrects many mistaken notions about God, Soul and Matter.

वैदिक नित्यकर्म विधि रु. 60.00

प्रस्तुत पुस्तक में प्रतिदिन प्रातःकाल उठने से लेकर रात्रि शयन करने तक का विधान निहित है। समय-समय पर विशेष पर्व आदि पर करणीय कर्म भी इसमें हैं। व्यक्तिगत कर्मों के साथ कुछ सामाजिक कार्यों के भी इसमें दिशा-निर्देश हैं।

महात्मा आनन्द स्वामीः सुनील शर्मा रु. 40.00

कुछ नाम ऐसे भी होते हैं जिनकी चर्चा दूसरे के होंठों पर होती है और शहद अपने कानों में घुलने लगता है। ऐसा ही एक मीठा नाम है 'महात्मा आनन्द स्वामी।' आइए, उनके पावन जीवन की झाँकी देखें।

प्रकाशक-अजयकुमार, मुद्रक-अजयकुमार, स्वामी-अजयकुमार, गोविन्दराम हासानन्द, 4408, नई सड़क, दिल्ली-6, अजयकुमार द्वारा सम्पादित, प्रिंटर्स-अजय प्रिंटर्स, 1586/C-13, नवीन शाहदरा, दिल्ली-32 में प्रिंट करा, वेदप्रकाश कार्यालय, 4408, नई सड़क, दिल्ली-6 से प्रसारित किया। न्यायक्षेत्र-दिल्ली।